मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ.प्र.) का

मासिक मुखपत्र

वर्ष-12, अङ्क-4 जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व-19 (वि.नि.सं. 2539) अप्रेल 2013

महावीर के पथ पर चलकर....

महावीर के पथ पर चलकर महावीर गुण गायेंगे।
महावीर से शक्ति प्राप्त कर महावीर बन जायेंगे ॥टेक॥

जीव मात्र की हिंसा से हो विमुख दया अपनायेंगे।
सत्य धर्म पर दृढ़ रहकर हम झूठ न उर में लायेंगे ॥1॥

बिना किसी भी आज्ञा कोई वस्तु न कभी उठायेंगे।
ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर गीत शील के गायेंगे ॥2॥

अनुचित संग्रह छोड़ सदा अपरिग्रह अपनायेंगे।
पाँच पाप से दूर रहेंगे अणुव्रत पाँच निभायेंगे ॥3॥

क्रोध मान माया तृष्णा का अब हम नाम मिटायेंगे।
सेवा करके दीन दुखी जीवों का कष्ट हटायेंगे ॥4॥

क्रोध भाव को त्याग निरन्तर क्षमाभाव उर लायेंगे।
मान कषाय दूर करके हम विनय महा चित लायेंगे ॥5॥

मायाचारी त्याग सहज ही सरल भावना भायेंगे।
लोभ हटा सन्तोषामृत से जीवन सुखी बनायेंगे ॥6॥

सप्त व्यसन से दूर रहेंगे तप संयम नित ध्यायेंगे।
कैसा भी संकट विपत्ति हो धैर्य हृदय में लायेंगे ॥7॥

आत्म स्वरूप नहीं भूलेंगे समता भाव जगायेंगे।
श्रद्धा ज्ञान चरित्र धारकर, नरभव सफल बनायेंगे ॥8॥

अध्यात्म भजन गंगा

संस्थापक सम्पादक
स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़

प्रधान सम्पादक
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, मङ्गलायतन

भूतपूर्व मुख्य सलाहकार
स्व. साहू रमेशचन्द्र जैन, नयी दिल्ली

मुख्य सलाहकार
श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़

सम्पादक मण्डल
ब्रह्मचारी पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण
बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़
डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर
श्रीमती बीना जैन, देहरादून

मार्गदर्शन
डॉ. किरीटभाई गोसलिया, अमेरिका
श्री लक्ष्मीचन्द बी. शाह, लन्दन
श्री पवन जैन, अलीगढ़
पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़

सम्पादकीय सलाहकार
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर
पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन
श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर
श्री प्रवीणचन्द्र पी. वोरा, देवलाली
श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई
श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी
श्री विजेन वी. शाह, लन्दन
पण्डित संजय जैन शास्त्री, मङ्गलायतन
पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन

शुल्क :
वार्षिक : 50.00 रुपये
एक प्रति : 04.00 रुपये

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व विशेषाङ्क - 18

क्या / कहाँ

निश्चयसम्यग्दर्शन.... 3
भरतजी के साथ... 12
भगवान महावीर की... 19
करनी का फल 22
समाचार-सार 30

अङ्क के प्रकाशन में सहयोग

श्रीमति शशिप्रभा जैन
धर्मपत्नी श्री हर्षवर्धन जैन
गिरनार होटल,
गिरनार कॉम्पलैक्स,
निकट एल. आई. सी.,
अदालत रोड,
औरंगाबाद (महा.)

पं. सं. : DELBIL/2001/4685
स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा मङ्गलायतन मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित।
सम्पादक : पण्डित कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़।

आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य
भवभ्रमण के मूल का छेदक और मोक्षसुख प्रदायक

निश्चयसम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो ?

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो ? – यह बात भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार की तेरहवीं गाथा में अलौकिक प्रकार से कही है। नव तत्त्व के परिज्ञानपूर्वक उसमें से शुद्धात्मा की अनुभूति किस प्रकार करना ? – यह बात पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इस गाथा पर प्रवचन करते हुए विस्तार से समझाई है। सम्यक्त्व के पिपासु जीवों के लिए इन प्रवचनों की लेखमाला अत्यन्त प्रेरणाकारी होने से यहाँ प्रस्तुत है।

प्रथम, धर्म की शुरूआत अर्थात् सम्यग्दर्शन कैसे हो ? – उसकी यह बात है। आत्मा में शरीरादि परवस्तुएँ तो है ही नहीं और अवस्था में एक समयमात्र का विकार अर्थात् संसार है, वह भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। सम्पूर्ण चैतन्यवस्तु को एक समय के विकारवाली मानना, वह अधर्म है। आत्मा का स्वभाव तो एक समय में सब जानने की सामर्थ्यवाला है। आत्मा, अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, उसमें वर्तमान ज्ञान की अवस्था को अन्तरोन्मुख करके, नित्य स्वभाव के साथ एकरूप करना और पूर्ण चैतन्यद्रव्य को श्रद्धा में स्वीकार करना – इसका नाम धर्म की शुरूआत है।

ऐसे परिपूर्ण आत्मा की पहचान करने के लिए कैसी मान्यता छोड़नी पड़ेगी ? समस्त विपरीतमान्यताएँ छोड़ना पड़ेगी। जो निमित्त से, विकार से अथवा पराश्रय से धर्म मानते-मनवाते हैं – ऐसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की मान्यता तो सम्यक्त्व के जिज्ञासु को सर्व प्रथम ही छोड़ देना चाहिए और वर्तमान ज्ञान की अपूर्णदशा के आश्रय से कल्याण होता है – यह मान्यता भी छोड़ देना चाहिए। आत्मा में निमित्त इत्यादि परवस्तुओं का अभाव है, क्षणिक विकार का निषेध है और अपूर्ण पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है;

आत्मा तो अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा करना ही परमार्थ सम्यग्दर्शन है।

अहा! आठ वर्ष की ज्ञानी राजकुमारी को भी अन्तर में ऐसा यथार्थ भान होता है; इसलिए अरे! 'हम तो गाँव में पैदा हुए, अल्प बुद्धिवाले हैं और हमारा अधिकांश समय तो व्यापार-धन्धे में चला गया है तो अब हमें ऐसा आत्मा कैसे समझ में आ सकता है?' - ऐसा मत मान बैठना। सभी समझ सके, वैसा आत्मा है। प्रत्येक आत्मा में पूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य भरा है परन्तु नजर अन्तरोन्मुख होना चाहिए। अन्तर में नजर करते ही निहाल कर दे - आत्मा ऐसी वस्तु है। नजर करते ही निहाल हो जाए - ऐसा भगवान आत्मा, चैतन्य का भण्डार है।

कोई यह मानता है कि अल्प विकासवाली क्षयोपशमदशा, वह क्षायिकभाव का कारण होती है तो वह भी पर्यायबुद्धि अर्थात् व्यवहार की मुख्यतावाला / व्यवहारमूढ़ है। अखण्ड परिपूर्ण आत्मा का आश्रय किये बिना क्षायिकभाव प्रगट नहीं होता।

जिस जिज्ञासु को ऐसा पूरा आत्मा मानना हो, उसे निमित्त और विकार से धर्म मनवानेवाले कुगुरु-कुदेव इत्यादि की सङ्गति छोड़ना चाहिए, उनका आदर और प्रशंसा छोड़ना चाहिए तथा अपनी पर्याय में सच्चे देव-गुरु की प्रशंसा इत्यादि का जो शुभभाव होता है, उस शुभराग में भी सन्तोष नहीं मान लेना चाहिए। उस राग को धर्म का कारण नहीं मानना चाहिए और ज्ञान के वर्तमान पराश्रित विकास की प्रशंसा अथवा अहङ्कार भी छोड़ना चाहिए। यदि वर्तमान विकास को ही सम्पूर्ण स्वरूप मानें तो उसकी प्रशंसा तथा अहङ्कार हुए बिना नहीं रह सकता; अत: जो जीव परिपूर्ण अखण्ड चैतन्यतत्त्व को मानता है, वह जीव, अल्प विकास को अपना पूर्ण स्वरूप नहीं मानता; इसलिए उसे उस विकास का अहङ्कार या प्रशंसा नहीं होती और वह वर्तमान पर्याय को अभेद परिपूर्ण स्वभाव के सन्मुख करके, उसकी प्रतीति करता है, वही निश्चयसम्यग्दर्शन और अपूर्व धर्म है।

वर्तमान ज्ञान के विकास जितना ही अपने को मानकर न अटकते हुए; वर्तमान ज्ञान को अन्तरस्वभाव में झुकाने से, अपूर्णता अथवा पर्याय की मुख्यता दिखाई नहीं देती अर्थात् आत्मा परिपूर्ण ही प्रतीति में आता है। इस प्रकार शुद्धनय द्वारा परिपूर्ण आत्मा को प्रतीति में लेना ही वास्तविक सम्यग्दर्शन है।

यहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि 'आत्मा ज्ञानमात्र है, आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है' - ऐसा मान लिया तो वह सम्यग्दर्शन है या नहीं।

उसका **समाधान** यह है कि ऐसी ऊपरी मान्यता नहीं चलती है। सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मा कहा है, वैसा पहचानकर, अन्तर में रुचि लगाका द्रव्यस्वभाव में पर्याय की अभेदता होने पर ही आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा माना कहा जाता है। इसके अतिरिक्त हमने 'आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा मान लिया' - ऐसा कहने वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता; अन्तर में पर्याय को झुकाकर, उसका वेदन-अनुभवन होना चाहिए।

अरे! सम्पूर्ण जीवन विषय-कषाय में बिताया, शरीर की सेवा में जीवन बिताया और आत्मा की दरकार किये बिना जीवन को धूलधानी कर दिया; तथापि यदि वर्तमान में उस रुचि को बदलकर आत्मा की रुचि करे तो यह समझा जा सकता है और अपूर्व कल्याण होता है। आठ-आठ वर्ष की सम्यग्दृष्टि कुँवरियाँ / लड़कियाँ भी अपने पूर्ण आत्मा को ऐसा मानती हैं कि अहो! हम तो चैतन्य हैं, अपने आत्मा को सिद्ध भगवान से किञ्चित् भी कम मानना हमको नहीं पोषाता; हम तो अपने आत्मा को परिपूर्ण ही स्वीकार करते हैं। अन्तर स्वभाव के अवलोकन तरफ झुकने पर आठ वर्ष की बालिका को भी ऐसा आत्मभान होता है; इसलिए हमें यह नहीं समझ में आ सकता - ऐसा नहीं मानना चाहिए। समस्त आत्माएँ चैतन्यस्वरूप हैं और पूरा-पूरा समझ सके - ऐसी सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है।

आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा अनुभव किये बिना आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसा मान लेने मात्र से सम्यग्दर्शन नहीं होता है। श्री सर्वज्ञ

भगवान की वाणी में जैसा आत्मा कहा गया है, वैसा निर्णय में लेकर अनुभव करना चाहिए। श्री सर्वज्ञभगवान, एक समय में तीन काल-तीन लोक को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं। ऐसे सर्वज्ञभगवान ने आत्मा कैसा कहा है ? जैसे स्वयं पूर्ण हैं, वैसा ही आत्मा कहा है, उससे कम नहीं कहा है। सर्वज्ञभगवान के ज्ञान में रागरहितरूप से समस्त वस्तुएँ प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न एक साथ ज्ञात होती हैं। ऐसे सर्वज्ञभगवान, आत्मा का स्वरूप अपूर्ण अथवा विकारी नहीं बतलाते, अपितु प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है - ऐसा सर्वज्ञभगवान बतलाते हैं। इस प्रकार आत्मा का परिपूर्ण स्वरूप बतलानेवाले सर्वज्ञदेव कैसे होते हैं ? उनके साधक-सन्तों की दशा कैसी होती है और उनकी वाणी कैसी होती है ? - ऐसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहचान तो सर्व प्रथम करना चाहिए।

सर्वज्ञभगवान कहते हैं कि हे भाई! यदि तुझे धर्म करना हो तो तुझे अपने आत्मा को अपूर्ण अथवा विकारी मानना नहीं चलेगा। यदि तू आत्मा को अपूर्णतावाला अथवा विकारवाला ही मान लेगा तो तेरे आत्मा में से अपूर्णता और विकार का अभाव किस प्रकार होगा ? आत्मा को अपूर्ण मानने से अपूर्णता नहीं मिटती, अपितु पूर्ण आत्मा की श्रद्धा करने से अपूर्णता क्रम-क्रम से नाश हो जाती है।

प्रत्येक आत्मा प्रभु है, पूर्ण सामर्थ्यवान् है; अवस्था में अपूर्णता भले ही हो, परन्तु सदा अपूर्णता ही रहा करे और पूर्णता प्रगट ही नहीं हो सके - ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। पर्याय से भी परिपूर्ण होने का प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है; प्रत्येक आत्मा निर्लेप, निर्दोष परिपूर्ण परमात्मा है - ऐसा भगवान की वाणी का पुकार है। अपने ऐसे पूर्ण आत्मा को पहचानकर, उसके अनुभवसहित सम्यग्दर्शन होता है और तभी धर्म की शुरूआत होती है; इसके अतिरिक्त धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

श्री अरहन्त भगवान कहते हैं कि अहो! पूर्ण चैतन्यघनस्वभाव पर दृष्टि देकर अन्तर्मुख एकाग्र होकर मैंने केवलज्ञान प्रगट किया है। प्रत्येक जीव के अन्तर में चैतन्य-समुद्र लबालब उछल रहा है, उसमें अन्तर्दृष्टि

करना, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसा परिपूर्ण चैतन्य आत्मा है, उसका भान किये बिना बाहर की अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा से सच्चा सम्यक्त्व नहीं हो जाता है।

भाई! यह बात तो अपना हित करने के लिए है, पर का तो कोई कुछ कर ही नहीं सकता। अज्ञानी, मात्र अभिमान करके संसार में परिभ्रमण करता है। आत्मा का कल्याण कैसे हो? - यह उसकी बात है। भाई! तू अपना तो कर..., अपना तो सुधार...., अपना हित करने के लिए निज स्वभाव में अन्तर्मुख हो जा... अपने पूर्ण स्वरूप को दृष्टि में ले। भाई! यह देह तो क्षण में छूट जाएगी। अवस्था में अल्पज्ञता होने पर भी सम्पूर्ण चेतनतत्त्व का स्वीकार करनेवाला और अल्पज्ञता का निषेध करनेवाला जीव ही सम्यग्दृष्टि है। अहो! जगत् को यह आत्मतत्व की बात तो सर्व प्रथम समझने योग्य है। दूसरा कुछ भले ही आवे या न आवे, परन्तु यह बात तो अवश्य समझने योग्य है। यह समझे बिना कल्याण नहीं हो सकता। यह समझने से ही भव का अन्त आता है।

सर्वज्ञभगवान की वाणी में वस्तुस्वरूप की परिपूर्णता प्रसिद्ध की गयी है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण परमेश्वर है, उसे किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं होती तथा प्रत्येक जड़ परमाणु भी स्वभाव से परिपूर्ण जड़ेश्वर भगवान है। जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र और परिपूर्ण है। कोई तत्त्व किसी दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं माँगता है। इस प्रकार समझकर अपने परिपूर्ण आत्मा की श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है।

समयसार कलश सात में आचार्यदेव कहते हैं कि -

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति॥

अर्थात् .... तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है, वह प्रगट होती है कि जो नव तत्त्वों में प्राप्त होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

जो भिन्न आत्मज्योति थी, वही प्रगट हुई है। पर्याय की दृष्टि से देखने

पर नव तत्त्व दिखते हैं परन्तु एकरूप चैतन्यज्योति अर्थात् स्वभाव की दृष्टि से देखने पर उसमें नव तत्त्व के भङ्ग नहीं हैं और नव तत्त्व के लक्ष्य से होनेवाले राग से भी वह भिन्न है – ऐसे शुद्ध आत्मा को देखनेवाले ज्ञान को शुद्धनय कहते हैं। भगवान! तू अन्दर से श्रद्धा-ज्ञान करके, वस्तु को पहचान तो सही! नव तत्त्व की रागमिश्रित श्रद्धा, वह पुण्यबन्ध का कारण है; धर्म का कारण नहीं है। नव तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहा है। वह व्यवहारसम्यक्त्व, शुभराग है; उसे वस्तुतः सम्यक्त्व मानना तो मिथ्यात्व है।

अहो! आचार्यदेव कहते हैं कि जब एक अखण्ड चैतन्यस्वभाव की दृष्टि छोड़कर मात्र नव तत्त्व के भेदों का अनुभव करना भी मिथ्यात्व है तो फिर कुदेवादि की श्रद्धा की बात ही कहाँ रही? उसकी तो बात ही यहाँ नहीं ली गयी है।

अभेद स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् धर्मी को नव तत्त्वादि के विकल्प होने पर भी, उसकी दृष्टि भिन्न एकाकार आत्मज्योति पर है। नव तत्त्व का ज्ञान करने पर भी आत्मज्योति अपने एकत्व को नहीं छोड़ती अर्थात् धर्मी की दृष्टि एकरूप चैतन्यज्योति से नहीं हटती है।

जो जीव, मात्र नव तत्त्व का रागसहित विचार करता है और भिन्न एकरूप आत्मा का अनुभव नहीं करता, वह तो मिथ्यात्वी है। नव तत्त्व के भेद में रहने से एकरूप आत्मा ज्ञात नहीं होता – अनुभव नहीं आता, किन्तु एकरूप अनुभव करने पर उसमें नव तत्त्व का रागरहित ज्ञान समाहित हो जाता है। अन्दर में 'यह बात मुझे नहीं समझ में आती' – ऐसी बुद्धि रखकर सुनेगा तो उसे समझने का यथार्थ प्रयत्न कहाँ से होगा? आज यह बात मैं अभी सुन रहा हूँ परन्तु पूर्ण आत्मा की बड़ी बात कल मुझे याद रहेगी या नहीं रहेगी? – ऐसी भी जिसे शङ्का होती है तो वह 'अहो! यह मेरे आत्मा की अपूर्व बात है, मैं अन्तर्मुहूर्त में एकाग्र होकर इसका अनुभव करूँगा' – ऐसी होंश और निःशङ्कता कहाँ से लाएगा और ऐसी निःशङ्कता

के बिना उसका प्रयत्न अन्तर्मुख कैसे हो पाएगा ? अभी भी क्या कहा है ? – यह अन्तर में पकड़कर याद रहने की भी जिसे शङ्का है, उसे अन्तरसन्मुख होकर, वैसा अनुभव कैसे होगा ? मैं परिपूर्ण केवलीभगवान जैसा हूँ, एक समय में अनन्त लोकालोक को जानने की सामर्थ्य मुझमें है, उसमें अन्तर एकाग्र होऊँ, इतनी ही बात है। इस प्रकार अपनी सामर्थ्य का विचार करना चाहिए।

नव तत्त्व के भेद की श्रद्धा छोड़कर, अखण्ड चैतन्यस्वभाव के आश्रय से रागरहित श्रद्धा करना, वह परमार्थ सम्यक्त्व है। अखण्ड चैतन्यस्वभाव के आश्रय से नव तत्त्व का रागरहित ज्ञान हो जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव समयसार गाथा–13 में कहते हैं कि इस प्रकार भूतार्थ से एक आत्मा को जानना, वह सम्यग्दर्शन है।

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥

भूतार्थ से जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रु निर्जरा।
आस्त्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना॥

अर्थात् भूतार्थनय से ज्ञात जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

यहाँ नव तत्त्वों को भूतार्थनय से जानने को सम्यक्त्व कहा है, उसमें 'भूतार्थ' कहने से नव तत्त्व के भेद का लक्ष्य छोड़कर, अन्तर चैतन्यस्वभाव सन्मुख ढलने की बात आयी है। भूतार्थ एकरूप स्वभाव की ओर ढलकर, नव तत्त्वों का रागरहित ज्ञान कर लिया है अर्थात् नव तत्त्वों में से एकरूप अभेद आत्मा को पृथक् करके श्रद्धा की है, वह वास्तव में सम्यक्त्व है।

अकेले नव तत्त्व के लक्ष्य में अटककर, नव तत्त्व की श्रद्धा करना, वह भी अभी सम्यक्त्व नहीं है। जिसे अभी यह भी नहीं पता हो कि नव तत्त्व क्या है ? उसे तो व्यवहारसम्यक्त्व भी नहीं है। व्यवहारसम्यक्त्व के बिना तो किसी को सीधा निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो जाता और व्यवहारसम्यक्त्व से भी निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो जाता। पहले जीव–

अजीवादि नव तत्त्व क्या हैं ? वह समझना चाहिए। मैं जीव हूँ, शरीरादि अजीव हैं, उनसे मैं भिन्न हूँ।

नव तत्त्व में पहला जीवतत्त्व है। जीव किसे कहना ? शरीरादि जीव नहीं हैं, राग भी वास्तव में जीव नहीं हैं और अल्प ज्ञानदशा भी जीवतत्त्व का वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। जीव तो परिपूर्ण चैतन्यमय अनन्त गुण का एकरूप पिण्ड है। मैं परिपूर्ण परमात्मा के समान हूँ, रागादि रहित चैतन्यस्वरूप हूँ; मुझमें निमित्त का अभाव है और रागादि का निषेध है; इस प्रकार पहले रागसहित विचार से जीव को मानता है, उसे भी अभी सम्यक्त्व नहीं है तो फिर जो पहले व्यवहार से - रागमिश्रित विचार से इतना भी नहीं जानता, वह तो एक चैतन्यतत्व का अनुभव किस प्रकार करेगा ? वस्तुस्वरूप को समझने-समझाने पर नव तत्त्व का विकल्प आये बिना नहीं रहता। भेद किये बिना समझाना किस प्रकार ? परन्तु उस भेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

मैं जीव हूँ, शरीरादि पदार्थ मुझसे भिन्न अजीवतत्त्व हैं। वह अजीव वस्तु उसके द्रव्य-गुण-पर्यायवाली है; इसलिए उसकी पर्याय उससे स्वयं से ही होती है; मुझसे नहीं होती। शरीर की क्रिया जीव के कारण नहीं होती, क्योंकि जीव और अजीव दोनों तत्त्व पृथक् हैं। इस प्रकार वह तत्त्वों को अलग-अलग माने, तब उसने जीव-अजीव इत्यादि तत्त्वों को व्यवहार से माना कहा जाता है। नव तत्त्वों को, नवरूप से अलग-अलग मानने को व्यवहारश्रद्धा कहते हैं परन्तु जीव-अजीव सबको एकमेक मानना अर्थात् जीव, अजीव का कर्ता है - ऐसा मानना तो व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

आत्मा, शरीर की क्रिया कर सकता है - जो ऐसा मानता है, उसे तो जीव-अजीव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है। नव तत्त्वों को, नव तत्त्वरूप से भिन्न मानना, उस रागसहित श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है और नव तत्त्व के विकल्प से पार होकर अभेद चैतन्यतत्त्व की अन्तर्दृष्टि करना, वह परमार्थ श्रद्धा है। भाई! यह अपूर्व बात है।

प्रश्न - परन्तु साहेब! आत्मा की समझ में बुद्धि नहीं लगती है न ?

उत्तर – देखो भाई! बुद्धि अन्यत्र तो लगती है न? तो दूसरी जगह बुद्धि लगती है और आत्मा में नहीं लगती, इसका कोई कारण? संसार की पढ़ाई में और व्यापार-धन्धा इत्यादि में तो बुद्धि को लगाता है और अन्तर-चैतन्य के समझने में बुद्धि को नहीं लगाता तो उसे इसमें अपना हित भासित नहीं हुआ है। यदि वास्तव में ऐसा भासित हो कि चैतन्यतत्त्व की समझ में ही मेरा हित है तो उसमें अपनी बुद्धि लगे बिना रहेगी ही नहीं। अहो! इसमें मेरा कल्याण है, इसमें मेरे प्रयोजन की सिद्धि है; इस प्रकार उसे चैतन्यतत्त्व की महिमा भासित नहीं हुई है। यदि चैतन्य की रुचि हो तो उसमें बुद्धि लगे बिना नहीं रह सकती और यह बात समझ में न आवे – ऐसा भी नहीं हो सकता है। ● *[आतम के हित पंथ लाग! से]*

आत्मार्थी जीव की पात्रता!

जिस तरह कोरे घड़े पर पानी की बूँद गिरते ही वह उसे चूस लेता है; उसी प्रकार आत्मार्थी जीव, आत्मा के हित की बात को चूस लेता है अर्थात् अन्तर में परिणमित करा देता है।

आत्मार्थी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिए इतनी गरज है कि दूसरे लोग मान-अपमान करें, उसके समक्ष देखता भी नहीं है। मुझे तो अपनी आत्मा को रिझाना है, मुझे जगत् को नहीं रिझाना है; इस प्रकार जगत् की अपेक्षा उसे आत्मा प्रिय लगा है, आत्मा से जगत् प्रिय नहीं है – ऐसी आत्मा की लगन के कारण वह जगत् के मान-अपमान को नहीं गिनता है। मुझे स्वयं समझकर अपनी आत्मा का हित साधना है – ऐसा ही लक्ष्य है परन्तु मैं समझकर दूसरों से अधिक हो जाऊँ या मैं समझकर दूसरों को समझा दूँ – ऐसी वृत्ति उसे उत्पन्न नहीं होती। देखो, यह आत्मार्थी जीव की पात्रता!

(-पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी)

प्रथमानुयोग का प्रेरक प्रसंग

भरतजी के साथ आध्यात्मिक तत्त्वचर्चा

भरतेश वैभव के एक प्रकरण पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

अभेदभक्ति ही मुक्ति का कारण है... और... भेदभक्ति, बन्ध का कारण है। यह बात भव्य सज्जन पुरुष उल्लास से स्वीकार करते हैं परन्तु जिसकी होनहार खराब है, ऐसा अभव्य जीव इसे स्वीकार नहीं करता।

श्री ऋषभदेव भगवान के पुत्र श्री भरत चक्रवर्ती एक बार उपवास करके बैठे हैं और रानियों के साथ तत्त्वचर्चा करते हैं। वहाँ रानी पूछती है कि हे स्वामी! संसार में दु:ख है और अविनाशी सिद्धपद में सुख है, उस सुख का क्या उपाय है? यह प्रश्न पूछने में रानियों को इतना भान है कि आत्मा के अतिरिक्त शरीरादि में कहीं सुख नहीं है और ऐसा अविनाशी सुख प्राप्त करने की रुचि हुई है; इसलिए प्रेम से प्रश्न करती हैं। यहाँ पति-पत्नी का प्रेम नहीं परन्तु धर्मात्मा के रूप में प्रेम है।

भरतजी जवाब देते हैं कि आत्मा में से आवरण का नाश करने से वह सुख प्रगट होता है। आत्मा में राग-द्वेष-मोहरूप जो भाव-आवरण है, उसका नाश करने से सिद्ध-सुख प्रगट होता है।

रानी फिर से पूछती है कि स्वामी! उस आवरण के नाश करने का क्या उपाय है, वह भी हमें बताओ।

भरतजी जवाब देते हैं कि परमात्मा की भक्ति से आवरण का क्षय होता है। परमात्मा की भक्ति दो प्रकार की है - एक भेदभक्ति और दूसरी अभेदभक्ति। उसमें अभेदभक्ति, उस आवरण के नाश का मूलकारण है। राग-द्वेषरहित परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप परमात्मा का स्वरूप जानकर, उनकी भक्ति, बहुमान करना, वह भेदभक्ति है और अपने आत्मा को परिपूर्ण निर्मल परमात्मस्वरूप जानकर, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें लीन

होना, वह अभेदभक्ति है। अभेदभक्ति, वह निश्चयभक्ति है, वह परमार्थ भक्ति है, वह वास्तविक भक्ति है, वह अपने आत्मा की भक्ति है।

पहले तो भेदभक्ति होती है। परमात्मा के स्वरूप का विचार करना, वह भेदभक्ति है; ऐसी भेदभक्ति को जानकर, फिर 'ऐसा ही परमात्मा मैं हूँ, आत्मा में ही परमात्मा होने की सामर्थ्य है' – ऐसे अपने आत्मा को पहचानकर स्थिर हो, उसका नाम परमार्थभक्ति अथवा अभेदभक्ति है। अभेद आत्मा की ओर झुकाव के लक्ष्यपूर्वक भेदभक्ति होवे तो उसे व्यवहार कहा जाता है।

विकार और आवरण का नाश करने के लिए आत्मा में अभेदभक्तिपूर्वक आराधना की आवश्यकता है। अभेदभक्ति से सिद्धपद प्राप्त होता है।

देखो, गृहस्थाश्रम में भी धर्मात्माओं के बीच ऐसी तत्त्वचर्चा चलती है। स्त्री है, तथापि तत्त्व की चर्चा करती है। 'मैं स्त्री हूँ; इसलिए मुझे समझ में नहीं आयेगा' – ऐसी मान्यता नहीं है। पत्नी अपने पति को ऐसे धर्म के प्रश्न पूछती है। मैं स्त्री नहीं परन्तु मैं तो आत्मा हूँ – ऐसा भान है।

फिर दूसरी रानी पूछती है कि स्वामी! परमात्मा की भेदभक्ति का तो हमें अभ्यास है परन्तु अन्तर में अभेदभक्ति में चित्त नहीं लगता! व्यवहार का अभ्यास है परन्तु अन्तर में आत्मा, ज्ञानदर्शन का सागर है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान में चित्त नहीं लगता, तो आत्मा की अभेदभक्ति कैसे हो? उसका उपाय कहो।

भरतजी उसका उत्तर देते हैं — जैसे तुम वीतरागी चैतन्यमूर्ति भगवान के प्रतिबिम्ब को सन्मुख रखकर, उसकी भक्ति करती हो; उसी प्रकार आत्मा को भी तनुवातवलय में विराजमान सिद्ध-समान चिन्तवन करोगी तो अभेद आत्मा की भक्ति में चित्त लगेगा। वातवलय में जैसे सिद्ध प्रभु बिराजमान हैं, वैसा ही यह आत्मा अभी शरीर-प्रमाण बिराजमान है।

भरत और उनकी रानियों को राग है और गृहस्थपने में हैं परन्तु अन्तर में रटन तो यही है, इसलिए धर्मपूर्वक अध्यात्म की चर्चा करते हैं।

आत्मा की भक्ति से मुक्ति होती है; उस भक्ति का वर्णन चलता है। शरीर में रहा होने पर भी आत्मा, शरीरादि से भिन्न है – ऐसा समझे तो शरीरादि पर में एकत्वबुद्धि छूटकर आत्मा के श्रद्धा–ज्ञान हो, वह अभेदभक्ति है। भेदभक्ति का वर्णन संक्षिप्त कर डाला और अभेदभक्ति का वर्णन विशेष करते हैं। भेदभक्ति को तो जगत जानता है परन्तु आत्मा की अभेदभक्ति को नहीं जानता। धर्म, आत्मा से करना है तो आत्मा कैसा है ? यह जाने बिना धर्म नहीं होता।

आत्मा ज्ञानमूर्ति सिद्ध जैसा है; शरीर से भिन्न है; अरूपी पुरुषाकार और चिन्मय है; चिन्मय अर्थात् ज्ञानमय है – ऐसे आत्मा को जानकर उसमें स्थिरता करना, वह अभेदभक्ति है।

जिनबिम्ब इत्यादि की भक्ति, वह भेदभक्ति है, उसमें शुभराग है और आत्मा को उपरोक्तानुसार जाने तो अन्तर में अपने आत्मा का ही परमात्मारूप से दर्शन होता है। संसार में–गृहस्थपने में भी ऐसा आत्मदर्शन हो सकता है। इसका नाम अभेदभक्ति है।

भरत महाराजा चक्रवर्ती हैं, ऋषभदेव भगवान के पुत्र हैं, इसी भव से मोक्ष जानेवाले हैं, छह खण्ड के राज्य में रहे होने पर भी कभी–कभी अन्तर में आत्मा का अनुभव कर लेते हैं। वे भरतजी अभी अपनी रानियों को आत्मा के अनुभव का उपाय समझा रहे हैं।

आत्मा ज्ञानमय है। पर का कुछ करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है और राग–द्वेष करने का भी ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ऐसे स्वभाव को पहचाने तो अन्तर में आत्मा का दर्शन हो। देखो! स्त्री को भी आत्मदर्शन होता है।

एक मूर्ख दरबार ऐसा था कि किसी ने उससे पूछा कि दरबार! तुम्हारे रानियाँ कितनी ? दरबार ने कहा – कामदार को पूछो, मुझे पता नहीं। इसी प्रकार अज्ञानी मूर्ख जीव कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप कैसा है – उसका अपने को पता नहीं, शास्त्र को पूछो। यहाँ कहते हैं कि आत्मा, रागरहित ज्ञानमय है – ऐसा जानकर अन्तर में देखे तो आत्मा का अनुभव हो और

अपने अनुभव का अपने को पता पड़ता है। जिस प्रकार स्फटिक की शुद्ध प्रतिमा पर धूल होने पर भी वह दिखती है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा स्फटिकवत् निर्मल है, ऊपर कर्म की धूल होने पर भी वह दिखता है। आत्मा जाननेरूप स्वभाववाला चैतन्य की प्रतिमा है और कर्म तथा शरीर की धूल से वह पृथक् रहा हुआ है। ऐसा जानकर यदि अनुभव करे तो स्फटिक प्रतिमा की तरह शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा बाहर की क्रिया तो कर नहीं सकता परन्तु राग-द्वेष होते हैं, उन्हें करने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पुरुषाकार ज्ञानमूर्ति आत्मा है, उसे पहचाने तो आत्मा की अभेदभक्ति होती है।

स्फटिक की प्रतिमा के चारों ओर धूल होने पर भी, वह धूल, स्फटिक में घुस नहीं जाती; उसी प्रकार शरीर और कर्मरूपी धूल के मध्य ज्ञानमूर्ति आत्मा रहा होने पर भी, आत्मा में वे कोई प्रवेश नहीं कर गये हैं। जो ऐसे आत्मा को जानकर, अन्तर में उसे देखने का प्रयत्न करे तो वह दिखता है। स्फटिक की प्रतिमा तो आँख से दिखती है, हाथ से स्पर्शित होती है, इस प्रकार वह इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होती है परन्तु आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति है, वह इन्द्रियों द्वारा दिखायी नहीं देता परन्तु अतीन्द्रियज्ञान-दर्शनरूपी चक्षु से वह ज्ञात होता है। शरीर और आत्मा को एक माने तो शरीर से भिन्न आत्मा दिखलायी नहीं देता और धर्म नहीं होता। देखनेवाला तो आत्मा है परन्तु यदि वह इन्द्रियों के द्वारा देखे तो बाहर के जड़-पदार्थ दिखते हैं, आत्मा ज्ञात नहीं होता। अन्तर में ज्ञानचक्षु से अर्थात् भावश्रुत से आत्मा को देखने का प्रयत्न करे तो वह दिखता है। ऐसे आत्मा को देखना और अनुभव करना, अभेदभक्ति है। उससे ही आत्मा में से आवरण का क्षय होकर सिद्ध सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार भरत महाराजा अपनी रानियों को समझाते हैं।

स्फटिक तो जड़ है, यह चैतन्यमूर्ति आत्मा उससे अत्यन्त विलक्षण है, वह बाहर की आँख से दिखायी नहीं देगा; उसे ज्ञानचक्षु से देखना पड़ेगा। निर्मल आकाश की तरह आत्मा को ज्ञान की मूर्ति समझकर अन्तर

में उसका ध्यान करो। संसार का मोह बहुत खराब है। परपदार्थ के प्रति मोह के कारण ही आत्मा, परमात्मा की अभेदभक्ति से भ्रष्ट हुआ है। इसलिए सर्व प्रथम परवस्तु की ममतारूप आशा के बन्धन को छोड़ो। परवस्तु की तीव्र आसक्ति छोड़कर, फिर एकान्तवास में जाकर, अन्तर में चैतन्यमूर्ति आत्मा का ध्यान करो। ऐसा करने से अभेदभक्ति होगी और मुक्ति होगी। इस प्रकार भरतजी ने अपनी रानी को उत्तर दिया।

प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव भगवान के पुत्र भरत चक्रवर्ती, संसार में रहे होने पर भी धर्मात्मा थे; उन्हें 96 हजार रानियाँ थीं। वे रानियाँ, भरतजी को धर्म के प्रश्न पूछती हैं और भरतजी उनके जवाब देते हैं।

रानी ने प्रश्न पूछा कि आत्मा का अनुभव किस प्रकार होता है ? उसे भरतजी उत्तर देते हैं कि आत्मा, शरीर से भिन्न है। आत्मा को भूलकर परपदार्थों में ममता करके जो तीव्र लोभ करता है, वह बुरा है, उस लोभ को मन्द करके एकान्त में जाकर आत्मा का चिन्तवन करना चाहिए। पहले जगत की तीव्र ममता घटाकर, सत्समागम से आत्मा का स्वरूप सुनें, पश्चात् एकान्त में जाकर अन्तर में उसके ध्यान का प्रयत्न करना चाहिए। अनन्त काल से आत्मा के ज्ञान का प्रयत्न नहीं किया, इसलिए एक ही दिन के प्रयत्न से वह ज्ञात नहीं होता, तो उसके लिए तीव्र प्रयत्नपूर्वक बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। बाहर में पैसे इत्यादि की प्राप्ति होने में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं परन्तु आत्मा का स्वरूप क्या है — यह पहचानने में आत्मा का पुरुषार्थ है। वास्तविक जिज्ञासा से अभ्यास करते-करते क्रम-क्रम से आत्मा का अनुभव होता है।

तत्पश्चात् रानी पूछती है कि आत्मा के अनुभव के लिये कुछ पुण्य करने का कहो न ? क्या भगवान की भक्ति, दान इत्यादि शुभराग करते -करते आत्मा का अनुभव नहीं होगा ? तब भरतजी उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार दर्पण के ऊपर चन्दन का लेप करो तो वह भी दर्पण को आवरण का ही कारण है; इसी प्रकार आत्मा में शुभराग से भी आवरण होता है। पहले भेदभक्ति का शुभराग होता है परन्तु उस शुभ तथा अशुभ दोनों से

रहित आत्मा का स्वरूप है। उसकी पहचान का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। भरतजी अपनी स्त्री के प्रति कहते हैं कि हे सुखाकांक्षिणी! भेद भक्ति से पुण्य होता है, और उससे स्वर्गादि पद मिलते हैं, परन्तु आत्मा का सुख उससे नहीं मिलता। रागरहित ज्ञानस्वरूपी आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान करके उसके ध्यान में एकाग्र होना, वह अभेदभक्ति है और वह अभेदभक्ति ही मोक्ष-सुख का कारण है। अभेदभक्ति ही मुक्ति का कारण है और भेद भक्ति, बन्ध का कारण है। यह बात भव्य सज्जन पुरुष उल्लास से स्वीकार करते हैं परन्तु जिसकी होनहार खराब है, ऐसा अभव्य जीव उसे स्वीकार नहीं करता।

अहो! यह देह तो जड़ और नाशवान है तथा मैं चैतन्यमूर्ति अविनाशी हूँ—ऐसे आत्मा की पहचान और ध्यान की रुचि भव्य जीवों को ही होती है, अभव्य जीव को आत्मा के ध्यान की रुचि नहीं होती। देखो! संसार में रहे हुए धर्मात्मा पति-पत्नी भी ऐसी धर्मचर्चा बारम्बार करते हैं।

विद्यामणि नाम की स्त्री भक्तिपूर्वक भरतजी से पूछती हैं कि - स्वामीनाथ! शरीर और राग से भिन्न आत्मस्वभाव का ज्ञान-ध्यान करनेरूप अभेदभक्ति पुरुषों को ही हो सकती है या हम स्त्रियों को भी होती है?

तब भरत महाराजा उत्तर देते हैं - उस अभेदभक्ति के दो प्रकार हैं — (1) शुक्लध्यान, (1) धर्मध्यान। यद्यपि कहने में तो ये दोनों अलग लगते हैं परन्तु इन दोनों के अवलम्बनरूप आत्मा एक ही है; इसलिए ये एक ही प्रकार के हैं। आत्मस्वभाव के भान द्वारा स्त्रियों को भी धर्मध्यान हो सकता है। स्त्रियों को शुक्लध्यान नहीं हो सकता। धर्मध्यान की अपेक्षा शुक्लध्यान विशेष निर्मल है।

स्त्री हो या पुरुष, उन दोनों का आत्मा तो एक ही प्रकार का है। बाहर के शरीर के अन्तर से अन्दर के आत्मा में अन्तर नहीं पड़ता। ध्यान का अवलम्बन तो देह से भिन्न आत्मा है। शरीर के अवलम्बन से ध्यान नहीं होता है। स्त्री को भी आत्मा के अवलम्बन से धर्मध्यान होता है। आत्मा, शरीर से भिन्न है और अन्दर में पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, उससे भी आत्मा भिन्न है।

समस्त जीवों को धर्म के लिए तो आत्मा का ही अवलम्बन है – ऐसे आत्मा का अवलम्बन करके ध्यान करे तो स्त्री को भी आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है। उसकी पहचान करके उसके ध्यान में एकाग्र होने पर, पर का विचार छूट जाये, इसका नाम भला ध्यान है और पर के विचार में एकाग्र होने से आनन्दमूर्ति आत्मा को भूल जाना, वह बुरा ध्यान है।

मैं शरीरादि से भिन्न हूँ; पुण्य और पाप की शुभ-अशुभ वृत्तियाँ भी कृत्रिम हैं, वे नयी-नयी होती हैं और उनका जानने-देखनेवाला ज्ञानस्वरूप मैं त्रिकाल हूँ। ऐसे आत्मा की महिमा में एकाग्र होने से परवस्तु के विचार छूट जाना, वह भला ध्यान है और आत्मा की महिमा भूलकर पर के विचार में एकाग्र होना, वह खोटा ध्यान है। आत्मा को पहचानकर एकाग्र हो, उतनी शान्ति प्रगट होती है। सत् समागम से आत्मा की पहचान और ध्यान करने का सतत् प्रयत्न करे तो इस काल में भी आत्मा का ध्यान होता है। ऐसा ध्यान, वह अभेदभक्ति है और उस अभेदभक्ति से ही मुक्ति होती है।

श्री भरत महाराजा के मुख से अभेदभक्ति की ऐसी सुन्दर चर्चा सुनकर वे रानियाँ अत्यन्त प्रसन्न हुईं और अन्तर में उल्लासपूर्वक उस अभेदभक्ति का प्रयत्न करने लगी। *[सम्यग्दर्शन (गुजराती) भाग-2 से]*

कृपया ध्यान दें

अति आवश्यक विनम्र निवेदन

तीर्थधाम मङ्गलायतन, पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार हेतु निरन्तर कृत संकल्प है किन्तु यह देखा जा रहा है कि अनेक कार्यक्रम आयोजक, तीर्थधाम मङ्गलायतन से कोई पत्र व्यवहार किये बिना एवं स्वीकृति प्राप्त किये बिना ही हमारे विद्वानों का नाम अपने कार्यक्रम हेतु प्रकाशित कर देते हैं। अत: हमारा सम्पूर्ण समाज से निवेदन है कि तीर्थधाम मङ्गलायतन के किसी भी विद्वान का नाम अपने कार्यक्रम में प्रकाशित करने हेतु कृपया पूर्व में लिखित स्वीकृति अवश्य प्राप्त करें।

– ट्रस्टी मण्डल, तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री महावीर जयन्ती पर विशेष पूज्य गुरुदेवश्री की ज्ञानगोष्ठी का एक अंश

भगवान महावीर की क्रिया और उपवास

प्रश्न—आत्मा शुद्ध है—ऐसा मात्र समझ लेने से क्या मोक्ष हो जाता होगा? कुछ शरीर की क्रिया भी करनी चाहिए न? महावीर प्रभु ने भी मुनिदशा में बारह वर्ष तक कष्ट सहन किया और उपवास इत्यादि क्रियाएँ कीं, तब उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई न?

उत्तर—भाई! तेरी बात अक्षरशः मिथ्या है। आत्मा किसे कहना?—उसका भी तुझे भान नहीं, तो फिर भगवान के आत्मा ने क्या किया? उसका तो तुझे पता कहाँ पड़ेगा? तुझे आत्मा की क्रिया नहीं दिखती, मात्र जगत की क्रिया दिखती है। भगवान, दुःख सहन करके मुक्ति को प्राप्त हुए या आत्मा के आनन्द का अनुभव करते-करते मुक्ति को प्राप्त हुए? उपवास, आत्मा में होता होगा या शरीर में? उपवास करना सुखरूप होगा या दुःखरूप होगा? भगवान ने दुःखरूप लगे, ऐसे उपवास नहीं किये थे परन्तु अन्तर के चैतन्यसमुद्र में डूबकी लगाकर आत्मिक आनन्दरस के स्वाद में / अनुभव में ऐसे लीन हुए थे कि आहार का विकल्प ही उत्पन्न नहीं हुआ और ऐसे उपवास भगवान ने किये थे।

अज्ञानियों ने, अन्तर में होनेवाली आत्मा की क्रिया को नहीं पहचाना और बाहर में, बाहर का संयोग नहीं हुआ, इस बात को चिपट पड़े और उसी में धर्म मान लिया। आहार तो जड़ है, परवस्तु है; परवस्तु का ग्रहण या त्याग आत्मा नहीं कर सकता। अन्तर में निरुपाधिक आत्मस्वभाव क्या है—उसके भान बिना चैतन्य में लीनता होगी कहाँ से? शुद्ध चैतन्यतत्त्व को जानकर-मानकर, उसी के अनुभव में एकाग्र होना, वह धर्मी जीव की क्रिया है। वह क्रिया करने से मुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त शरीर की किसी क्रिया से या विकारीभावरूप क्रिया से धर्म अथवा मुक्ति नहीं होती।

समस्त आत्माओं का स्वभाव पवित्र निरुपाधिक है; स्वभाव में विकार

तीन काल में नहीं है, तथापि वर्तमान अवस्था में जो विकार है, उसे ही अपना स्वरूप मानकर, उसके अनुभव में अटक जाये और उसरहित जो त्रिकाली शुद्धस्वभाव है, उसे न माने तथा न अनुभव करे तो जीव का अज्ञान नहीं मिटता।

हे जीव! त्रिकाली शुद्धस्वभाव को समझे बिना श्रद्धा और एकाग्रता कहाँ करेगा? और ज्ञान को कहाँ स्थिर करेगा? मुझे निर्विकल्प शुद्धस्वभाव के साथ एकता है और विकार से पृथक्ता है–ऐसे श्रद्धा–ज्ञान और अनुभव करने के पश्चात्, विकार हो, उसे साधक जीव अपने स्वरूप के रूप में अनुभव नहीं करता, इसलिए शुभाशुभविकार के समय भी शुद्धस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञानरूप धर्म बना रहता है और साधक जीव सदा इसी प्रकार स्वभाव में एकतारूप और विकार से पृथक्रूप परिणमते हुए शुद्धता की पूर्णता करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

प्रश्न—आप जो बात समझाते हो, वह बात तो सत्य ही है परन्तु उससे समाज को क्या लाभ होगा?

उत्तर—देखो भाई! पहली बात तो यह है कि स्वयं अपना देखना है; समाज का चाहे जो हो, उसकी चिन्ता छोड़कर स्वयं अपना सम्हालना। समुद्र के मध्य डुबकी खा रहा हो, तब समाज की या कुटुम्ब की चिन्ता करने के लिये नहीं रुकता है परन्तु 'मैं समुद्र में डूबने से कैसे बचूँ' — इसके लिये ही उपाय करता है; इसी प्रकार संसार–समुद्र में डूबते–डूबते महा कठिनाई से मनुष्यभव मिला है, तब मेरे आत्मा का हित कैसे हो, मेरा आत्मा, संसार–भ्रमण से कैसे छूटे? – यही देखने का है। पर की चिन्ता में रुकेगा तो आत्महित चूक जायेगा।

यह बात तो अपना हित करने के लिये है। प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है; इसलिए समाज के दूसरे जीवों का हित हो तो ही अपना हित हो सकता है – ऐसी कोई पराधीनता नहीं है। इसलिए हे जीव! तू तेरे हित का उपाय कर। *[प्रवचन-सागर के अनमोल मोती (गुजराती) से साभार]*

श्री महावीर जयन्ती पर विशेष दिनाँक 15-11-1974

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

आत्मार्थी बन्धु,

जयजिनेन्द्र!

(1) भगवान महावीर का सन्देश है कि हे संसार के प्राणियों! यदि सुख चाहते हो तो प्रथम यह निर्णय करो कि अजीवद्रव्यों से तुम्हारा निश्चय-व्यवहार से कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्यसम्बन्ध नहीं है।

(2) स्पर्शादि की 20 और शब्द की सात पर्यायें, सब पुद्गल की पर्यायें हैं, इन सबमें अपनेपने का भाव आना, निगोद की तैयारी है क्योंकि जैसे कोई स्त्री, दूसरे पति का भाव करे तो उसे कुलच्छनी कहा जाता है, उसी प्रकार जिससे अपना किसी भी अपेक्षा सम्बन्ध नहीं है, उससे सम्बन्ध मानना, यह महान मिथ्यात्व है।

(3) शुभाशुभभाव हिंसा है। आत्मा के आश्रय से शुद्धभाव की प्राप्ति, वह अहिंसाधर्म है। एक बार अहिंसाधर्म प्रगट हो जावे तो सम्पूर्ण जैनशासन का पता चल जाता है, इसलिए पात्र जीवों को जिनेन्द्र भगवान के कहे अनुसार सात तत्त्वों को समझकर, अपना आश्रय लेकर धर्म की प्राप्ति कर मोक्ष का पथिक बनना, प्रत्येक सुखार्थी का प्रथम कर्तव्य है।

(4) जिनधर्म आसान है, सुलभ है क्योंकि वह अपने पास ही है परन्तु अपात्रों को विश्वास नहीं आता। इसलिए एक बार विश्वास लाओ कि मैं ही सुख का खजाना हूँ, मेरे खजाने के अलावा बाहर कहीं भी सुख नहीं है। बस बेड़ा पार है।

(5) एक वाक्य को समझने के लिए शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ लगाकर स्वाध्याय करना चाहिए। इससे जिनधर्म का रहस्य समझ में आ जाता है।

जैसा केवली के ज्ञान में आया है, वैसा ही सब कुछ होता है।

सब भाई-बहिनों को यथायोग्य जयजिनेन्द्र!

आपका, **कैलाशचन्द्र जैन**

राजा इन्द्र की पराजय, वैराग्य और निर्वाणगमन

करनी का फल

रथनपुर का राजा इन्द्र महाशक्तिशाली था। उस पर चढ़ाई करके रावण ने उसे बाँध लिया, इस कारण इन्द्र के सामन्त अपने स्वामी के दु:ख से व्याकुल हो गये। तब इन्द्र के पिता सहस्त्रार, जो उदासीन श्रावक हैं, उनसे विनती की और इन्द्र को छुड़ाने के लिए सहस्त्रार को लेकर लंका में रावण के समीप आये। द्वारपालों से निवेदन करके, इन्द्र का सारा वृतान्त कहकर रावण के पास गये। रावण ने सहस्त्रार को उदासीन श्रावक जानकर उनका बहुत विनय किया, उन्हें सिंहासन दिया और स्वयं सिंहासन से उतरकर नीचे बैठ गया।

सहस्त्रार, रावण को विवेकी जानकर कहने लगा – 'हे दशानन! तुम जगजित हो, इससे तुमने इन्द्र को भी जीता, तुम्हारा बाहुबल सबने देखा है। जो महान राजा होते हैं, वे गर्विष्ट लोगों का गर्व दूर करके फिर कृपा करते हैं; अत: अब इन्द्र को मुक्त कर दो।' सहस्त्रार ने ऐसा कहा ही, और जो चारों लोकपाल थे, उनके मुख से भी यही शब्द निकले, मानो सहस्त्रार का पढ़ाया ही पढ़ा हो।

रावण ने सहस्त्रार से हाथ जोड़कर कहा – 'हे विज्ञ! आप जैसा कहते हो, वैसा ही होगा।' फिर उसने मजाक करते हुए चारों लोकपालों से कहा – 'तुम नगर की सफाई करो। नगर को तृण, कंकर रहित और कमल की सुगन्धरूप करो, पृथ्वी पर सुगन्धित जल का छिड़काव करो और पाँचों रंगों के मनोहर पुष्पों से नगर की शोभा करो।' रावण के मुख से यह सुनकर चारों लोकपाल लज्जित होकर नीचे देखने लगे।

इस विचित्र परिस्थिति को लक्ष्यगत करते हुए सहस्त्रार अमृतमयी वाणी में बोला – 'हे वीर! तुम जिसे जो आज्ञा करोगे, उसी अनुसार ये सब करेंगे, तुम्हारी आज्ञा सर्वोपरि है। यदि तुम्हारे जैसे महामानव पृथ्वी को शिक्षा नहीं दें तो पृथ्वी के लोग अन्याय मार्ग में प्रवर्तन करेंगे।'

सहस्त्रार की मधुर वाणी सुनकर रावण अति प्रसन्न हुआ और बोला – 'हे पूज्य! आप हमारे पिता तुल्य हो और इन्द्र मेरा चौथा भाई है। उसे प्राप्त करके मैं सम्पूर्ण पृथ्वी को कंटकरहित करूँगा। उसका इन्द्रपद ज्यों का त्यों है और ये लोकपाल भी ज्यों के त्यों रहेंगे; साथ ही दोनों श्रेणी के राज्य की अधिक इच्छा हो तो वह भी ले लो। मुझमें और इन्द्र में कोई अन्तर नहीं है। आप बड़े हो, गुरुजन हो; जैसे इन्द्र को शिक्षा देते हो, वैसे ही मुझे भी दो। आपकी शिक्षा अलङ्काररूप है। आप रथनपुर में विराजमान रहें अथवा यहाँ विराजो, दोनों आपकी ही भूमियाँ हैं।'

रावण के ऐसे प्रिय वचनों से इन्द्र के पिता सहस्त्रार का मन अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। वे कहने लगे कि 'हे भव्य! तुम्हारे जैसे सज्जन पुरुषों की उत्पत्ति सभी लोगों को आनन्द देती है। हे चिरंजीवी! तुम्हारी शूरवीरता का आभूषणरूप यह उत्तम विनय सम्पूर्ण पृथ्वी में प्रशंसा को प्राप्त है। तुम्हें देखने से मेरे नेत्र सफल हुए हैं। धन्य है तुम्हारे माता-पिता, कि जिन्होंने तुम्हें जन्म दिया। तुम्हारी कीर्ति कुन्दन पुष्प के समान उज्ज्वल हैं। तुम समर्थ और क्षमावान; दाता और गर्व रहित; ज्ञानी और गुण प्रिय; तथा पवित्र जिनशासन के अधिकारी हो। तुमने मुझे यह कहा कि 'यह आपका घर है और जैसा इन्द्र आपका पुत्र है, वैसा मैं हूँ' तो इस बात के लिए तुम योग्य हो, तुम्हारे मुख से ऐसे ही वचन निकलेंगे, तुम्हारे जैसा पुरुष इस संसार में विरल है।

परन्तु हे बन्धु! जन्मभूमि माता के समान होती है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। जन्मभूमि का वियोग चित्त को आकुल करता है। तुम समस्त पृथ्वी के स्वामी हो, तो भी तुम्हें लंका प्रिय है। हमारे बन्धुजन और समस्त प्रजाजन हमें देखनें की अभिलाषा से हमारे आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं; इस कारण मैं रथनपुर तो जाऊँगा, परन्तु चित्त सदा तुम्हारे पास रहेगा। हे देवों के प्रिय! तुम चिरकाल तक पृथ्वी की रक्षा करो।'

उसी समय रावण ने इन्द्र को बुलाया और सहस्त्रार के साथ रथनपुर भेज दिया।

रावण स्वयं सहस्त्रार को पहुँचाने थोड़ी दूर तक गया और अत्यन्त विनयपूर्वक विदा दी। सहस्त्रार, इन्द्र को लेकर लोकपातसहित विजयार्द्धगिरि पर आये। सारा राज्य ज्यों का त्यों था। लोकपाल भी आकर अपने-अपने स्थानों पर रहें, परन्तु मान भङ्ग से आकुलता को प्राप्त हुए।

❖ ❖ ❖

जैसे-जैसे विजयार्द्ध के लोग इन्द्र और लोकपालों को देखते, वैसे-वैसे वे शर्म से नीचे झुक जाते। इन्द्र को अब न तो रथनपुर से प्रीति थी, न रानियों से प्रीति थी, न उपवनादि में प्रीति थी, न लोकपालों में प्रीति थी। कमलों के मकरन्द से जिसका जल पीला हो रहा है - ऐसे मनोहर सरोवरों में भी प्रीति नहीं थी अथवा किसी क्रीड़ा में प्रीति नहीं थी। अधिक क्या? यहाँ तक कि उसे अपने शरीर में भी प्रीति नहीं थी। उसका चित्त लज्जा से युक्त था। उसे उदास देखकर सब उसे अनेक प्रकार से प्रसन्न करना चाहते और कथाओं के प्रसङ्ग कहकर यह बात भुलाने का प्रयत्न करते परन्तु वह भूलता नहीं था। उसने सभी लीला-विलास छोड़ दिए। अपने राजमहल के मध्य गन्धमादन पर्वत के शिखर के समान ऊँचे जिनमन्दिर के एक स्तम्भ के ऊपर वह रहता, उसका शरीर कान्ति रहित हो गया था।

पण्डितों से मण्डित वह विचारता है कि धिक्कार है इस विद्याधर पद के ऐश्वर्य को, कि जो एक क्षणमात्र में विलय को प्राप्त हुआ। जैसे, शरद ऋतु के बादल अत्यन्त ऊँचे होते हैं, परन्तु वे क्षणमात्र में विलुप्त हो जाते हैं। उसी प्रकार यह शस्त्र, यह हाथी, यह तुरङ्ग, यह योद्धा आदि सब तृण समान हो गये कि जिन्होंने अनेक बार अद्‌भुत कार्य किये थे अथवा यह कर्मों की विचित्रता है, कौन पुरुष इसे अन्यथा कर सकता है? अत: जगत् में कर्म प्रबल है। मैंने पूर्व में नाना प्रकार की भोग सामग्री देनेवाले कर्म उपार्जित किये थे, वे अपना फल देकर खिर गये - इस कारण मेरी यह दशा हो रही है। रण संग्राम में शूरवीर सामन्तों का मरण होता है, वही ठीक है; उससे पृथ्वी पर अपयश नहीं होता। मैं जन्म से लेकर शत्रुओं के सिर पर चरण रखकर जिया हूँ - ऐसा मैं इन्द्र, शत्रु का अनुचर होकर किस

प्रकार राज्य लक्ष्मी भोगूँगा? अत: अब संसार के इन्द्रियजनित सुख की अभिलाषा तजकर मोक्षपद की प्राप्ति के कारणरूप मुनिव्रत को अङ्गीकार करूँ। रावण, शत्रु का वेश धारण करके मेरा महामित्र बना है, उसने मुझे प्रतिबोध दिया, अन्यथा मैं तो असार सुख के आस्वाद में आसक्त था।

इस प्रकार इन्द्र विचार कर ही रहा था कि उसी समय निर्वाणसंगम नामक चारण मुनि विहार करते हुए आकाशमार्ग से जा रहे थे। चैत्यालय के कारण उनका आगे गमन नहीं हो सका, इस कारण उन्होंने नीचे उतरकर भगवान के प्रतिबिम्बों के दर्शन किये। मुनिराज चार ज्ञान के धारक थे। राजा इन्द्र ने उठकर उनको नमस्कार किया। उन मुनिराज ने समीप जाकर अमृतरूप वचन से इन्द्र का समाधान किया – 'हे इन्द्र! जो रहंट का एक घड़ा भरा होता है, वह खाली होता है और जो खाली है, वह भरता है; उसी प्रकार इस संसार की यात्रा क्षणभंगुर है, यह बदल जाए इसमें आश्चर्य नहीं है।'

मुनिराज के मुख से उपदेश सुनकर इन्द्र ने अपने पूर्व भव पूछे। तब अनेक गुणों से शोभित मुनिराज ने कहा – 'हे राजन! अनादि काल का यह जीव चार गतियों में परिभ्रमण करता आ रहा है। जो अनन्त भव यह धारण करता है, वे तो केवलज्ञान गम्य है, परन्तु कुछ भवों का कथन करता हूँ, वह तू सुन!

❖ ❖ ❖

शिखापद नामक नगर में एक अत्यन्त गरीब स्त्री रहती थी। उसका नाम कुलवन्ती था। उसकी आँख चिपड़ावाली, नाक चपटा, शरीर में अनेक व्याधियाँ थी। वह पापकर्म के उदय से लोगों की झूठन खाकर जीवित थी। उसके अङ्ग कुरूप; वस्त्र मेले-फटे; बाल रूखे थे। वह जहाँ जाती, वहाँ लोग उसका अनादर करते थे। उसे कहीं सुख नहीं मिला था। अन्त काल में उसे सुबुद्धि उत्पन्न हुई और उसने एक मुहुर्त का अनशन व्रत

अंगीकार कर लिया। वह प्राण तजकर किंपुरुष देव की शीलधारा नाम की दासी हुई। वहाँ से चयकर रत्ननगर में गौमुख नामक किसान की धरणी नाम की स्त्री के गर्भ से सहस्त्रभाग नामक पुत्ररूप में उत्पन्न हुई। वहाँ उसने परम सम्यक्त्व पाकर श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये और मरकर शुक्र नामक नौवें स्वर्ग में उत्तम देव का जन्म धारण किया। वहाँ से चयकर महाविदेहक्षेत्र के रत्नसंचय नगर में मणी नाम के मन्त्री की गुणावली नाम की स्त्री के सामन्तवर्द्धन नाम के पुत्ररूप में जन्म लिया। उसने पिता के साथ वैराग्य अङ्गीकार किया, अति घोर तप किया और तत्वार्थों में चित्त को लगाया। निर्मल सम्यक्त्वपूर्वक कषायरहित बाईस परिषहों को सहन करके शरीर का त्याग किया और नौंवे ग्रैवेयक में गया। वहाँ बहुत काल तक अहमिन्द्र का सुख भोगकर राजा सहस्त्रार विद्याधर की रानी हृदयसुन्दरी के गर्भ से तू इन्द्र नाम का पुत्र हुआ है और इस रथनपुर में जन्मा है। पूर्व के अभ्यास से तेरा मन इन्द्र के सुख में आसक्त हुआ और तू विद्याधरों का अधिपति इन्द्र कहलाया।

अब तू व्यर्थ खेद करता है कि मैं विद्या में अधिक था फिर भी शत्रुओं से पराजित हुआ। हे इन्द्र! कोई बुद्धिहीन कौदव बोकर शालि (चावलों) की इच्छा करे, वह निरर्थक है। यह प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है। तूने पूर्व में भोग का साधन हो, वैसा शुभकर्म किया था, वह नष्ट हुआ है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती – इस विषय में आश्चर्य किसका? तूने इस जन्म में अशुभकर्म किये हैं, उसका यह अपमानरूप फल मिला है, उसमें रावण तो निमित्तमात्र है। तूने जो अज्ञानरूप चेष्टा की है, उसे क्या तू नहीं जानता? तू ऐश्वर्य के मद से भ्रष्ट हुआ है। बहुत दिन हुए, इसलिए तुझे याद नहीं है। मैं बताता हूँ, तू एकाग्रचित्त होकर सुन!

❖ ❖ ❖

एक बार अरिंजयपुर में ब्रह्मवेग राजा और वेगवती रानी की अहल्या नाम की पुत्री का स्वयंवर मण्डप रचा गया था। वहाँ दोनों श्रेणियों के विद्याधर अति अभिलाषा रखकर गये थे और तू भी बहुत बड़ी सम्पदासहित

गया था। एक चन्द्रवर्त नाम के नगर का स्वामी राजा आनन्दमाल भी वहाँ आया था। अहल्या ने सबको छोड़कर उसके गले में वरमाला पहना दी थी। वह आनन्दमाल अहल्या से विवाह करके जैसे इन्द्र, इन्द्राणी के साथ सुख भोगता है, वैसे मनवांछित भोग भोगता था। जिस दिन से उसका विवाह अहल्या के साथ हुआ, उसी दिन से तुझे उसके प्रति ईर्ष्या बढ़ गयी और तूने उसे अपना शत्रु मान लिया। कितने ही दिन वह घर में रहा; फिर उसे ऐसा विचार आया कि यह देह विनाशीक है, इससे मुझे कोई लाभ नहीं है, अब मैं तप करूँगा, जिससे संसार के दु:ख दूर हो। ये इन्द्रियों के भोग महा ठग हैं, इनमें सुख की आशा कैसे की जा सकती है ?

इस प्रकार मन में विचार करके वह ज्ञानी अन्तरात्मा आनन्दमाल समस्त परिग्रह का त्याग करके तपश्चरण करने लगा। एक दिन वह हंसावली नदी के किनारे कायोत्सर्ग धारण करके बैठा था, वहाँ तूने उसे देखा। उसे देखते ही तेरी क्रोधाग्नि भड़क उठी और तुझ मूर्ख ने उसका उपहास किया – 'अहो आनन्दमाल! तू काम-भोग में अति आसक्त था, अब अहल्या के साथ रमण कौन करेगा?' वह तो विरक्तचित्त पहाड़ के समान निश्चल होकर बैठा था। उसका मन तत्त्वार्थ चिन्तन में अत्यन्त स्थिर था। इस प्रकार तूने परममुनि की अवज्ञा की। वे मुनिराज तो आत्मसुख में मग्न थे, उन्होंने तेरी बात को हृदय में प्रवेश नहीं होने दिया। उनके पास तेरा भाई कल्याण नाम का मुनि बैठा था। उन्होंने तुझसे कहा 'तूने इस मुनिराज की अवज्ञा की है, इस कारण तेरी भी पराजय होगी।' तब सर्वश्री नाम की स्त्री, जो कि सम्यग्दृष्टि और साधु पूजक थी, उसने नमस्कार करके कल्याण स्वामी को शान्त किया। यदि उसने उन्हें शान्त नहीं किया होता तो तू तत्काल साधु की क्रोधाग्नि से भस्म हो जाता।

तीन लोक में तप के समान कोई बलवान नहीं है। जैसी शक्ति साधुओं की होती है, वैसी इन्द्रादिकों की भी नहीं होती है। जो पुरुष साधुओं का अनादर करता है, वह भव-भव में अत्यन्त दु:ख पाकर नरक-निगोद में ही जा पड़ता है। अत: मन से भी साधुओं का अपमान मत करो। जो मुनिराज का अपमान करता है, वह इसभव, परभव में दु:खी होता है। जो मुनियों को मारता है अथवा पीड़ा करता है, वह अनन्त काल तक दु:ख भोगता है। मुनियों की अवज्ञा के समान दूसरा पाप नहीं है। यह प्राणी मन, वचन और काया से जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है - ऐसा जानकर धर्म में बुद्धि को करो और अपनी आत्मा को संसार दु:खों से छुड़ाओ।''

❖ ❖ ❖

महामुनि के मुख से अपने पूर्वभव की कथा सुनकर इन्द्र आश्चर्य को प्राप्त हुआ। वह नमस्कार करके मुनिराज से कहने लगा - 'हे भगवन्! आपके प्रसाद से मैंने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया है। अब मेरे समस्त पाप क्षणमात्र में विलय को प्राप्त होंगे। साधुओं के सङ्ग से जगत में कुछ भी दुर्लभ नहीं है, अनन्त जन्मों में जो नहीं मिला, वह आत्मज्ञान भी उनके प्रसाद से मिलता है।' - ऐसा कहकर उसने बारम्बार मुनिराज की वन्दना की और मुनिराज आकाशमार्ग से विहार कर गये।

❖ ❖ ❖

इन्द्र गृहस्थाश्रम में अत्यन्त विरक्त हो गया। शरीर को पानी के परकोटे के समान असार जानकर, धर्म में निश्चलबुद्धि से अपनी अज्ञानचेष्टा की निन्दा करते हुए उस महापुरुष ने अपनी राज्यविभूति पुत्र को देकर अपने अनेक पुत्रों, राजाओं और लोकपालों सहित सर्व कर्मों की नाशक जिनेश्वरी दीक्षा अङ्गीकार कर ली। सर्व परिग्रहों का त्याग करके, निर्मल चित्तवाले उसने पहले जैसे शरीर को भोगों में लगाया था, वैसा ही तप के समूह में लगाया - ऐसा तप अन्य से नहीं हो सकता। महापुरुषों की शक्ति बहुत होती है। वह जैसे भोगों कें प्रवर्तते हैं, वैसे ही विशुद्ध भाव में भी प्रवर्तते हैं। इस प्रकार राजा इन्द्र बहुत काल तक तप करके, शुक्लध्यान के प्रताप से कर्मों का क्षय करके निर्वाण पधारे।

गौतमस्वामी, राजा श्रेणिक से कहते हैं – हे श्रेणिक! 'देखो! महान मनुष्यों का चरित्र आश्चर्यकारी होता है। वे प्रबल पराक्रम के धारक बहुत काल तक भोग भोगकर, फिर वैराग्य लेकर अविनाशी सुख भोगते हैं, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वे समस्त परिग्रह का त्याग करके, क्षणमात्र में ध्यान के बल से महान पापों का क्षय करते हैं। जैसे बहुत काल से ईंधन की राशि का सञ्चय किया हो, वह क्षणमात्र में अग्नि के संयोग से भस्म हो जाती है – ऐसा जानकर हे प्राणी! आत्म कल्याण का प्रयत्न करो! अन्त:करण विशुद्ध करो! मरण का दिन कोई निश्चित नहीं है, अत: ज्ञानरूप सूर्य के प्रकाश से अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करो।' ● *(बोधि-समाधि-निधान से)*

वैराग्य समाचार

जयपुर : पण्डित पूनमचन्द जैन छाबड़ा का अत्यन्त शान्त परिणामों से देहपरिवर्तन हुआ है। विदित हो कि आप प्रारम्भ से ही पूज्य गुरुदेवश्री के अनुयायी थे एवं निवृत्ति की भावना से इन्दौर से अपना व्यवसाय समाप्त करके श्री टोडरमल स्मारक भवन जयपुर में निवास करते हुए स्वाध्याय के साथ-साथ संस्था की भी अनेक प्रकार से सेवा करते थे। वात्सल्य से ओतप्रोत आपका व्यक्तित्व सबको आकर्षित करता था। तीर्थधाम मङ्गलायतन परिवार के प्रति भी आपका सहज वात्सल्य था।

जयपुर : श्रीमती सुषमा जैन धर्मपत्नी श्री अभयकुमार जैन (भ्राता श्री जवाहरलाल जैन, फिरोजाबादवाले) का अत्यन्त शान्त परिणामों से देहपरिवर्तन हुआ है।

बिजौलियां : श्री चाँदमल जैन वेद का शान्त परिणामों से देहपरिवर्तन हुआ है। आप दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल के सदस्य थे एवं भीलवाड़ा पंच कल्याणक में राजदरबार के राजा का पदभार ग्रहण किया था।

आगरा : श्री निर्मलकुमार जैन सर्राफ सुपुत्र पण्डित श्री पदमचन्द्र जैन सर्राफ आगरा का शान्त परिणामों से देहपरिवर्तन हुआ है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन परिवार इष्टवियोग की इस विषम परिस्थिति में आपके परिजनों के प्रति संवेदना व्यक्त करते हुए दिवंगत आत्मा के अभ्युदय की मङ्गल कामना करता है।

समाचार-सार

पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़ के स्मरणार्थ पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्त बहिनश्री चम्पाबेन की साधनाभूमि

स्वर्णपुरी-सोनगढ़ की तीर्थयात्रा सम्पन्न

अलीगढ़ : पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़ के स्मरणार्थ, तीर्थधाम मङ्गलायतन परिवार द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं बहिनश्री की पवित्र आत्मसाधनाभूमि तीर्थधाम स्वर्णपुरी की त्रिदिवसीय यात्रा का कार्यक्रम, वैराग्य एवं भक्तिपूर्ण वातावरण में सानन्द सम्पन्न हुआ।

यात्रा के प्रथम दिन, दिनांक 16 फरवरी को पूज्य गुरुदेवश्री के (वचनामृत बोल 171 पर) सी.डी. प्रवचनोपरान्त श्री सीमन्धर जिनालय में जिनेन्द्रभक्ति का आयोजन किया गया। तत्पश्चात् निर्माणाधीन बाहुबली भगवान की भव्य प्रतिमा का अवलोकन तथा प्रवचनमण्डप में स्थित पूज्य गुरुदेवश्री के प्रभावना दर्शन का परिचय बाल ब्रह्मचारिणी कोकिलाबेन द्वारा प्रदान किया गया। इस अवसर पर अनेक मुमुक्षु एवं ब्रह्मचारिणी बहिनें भी उपस्थित थीं। चित्र प्रदर्शनी का अवलोकन कर सभी समागत अतिथियों ने हर्ष भाव व्यक्त किया। सायंकालीन कार्यक्रम में सभी समागत साधर्मियों ने पूज्य गुरुदेवश्री के सम्प्रदाय परिवर्तन धाम 'स्टार ऑफ इण्डिया' का भ्रमण किया, जहाँ बाल ब्रह्मचारिणी आशाबेन ने पूज्य गुरुदेवश्री के परिवर्तन के समय की स्थिति एवं उनकी महिमा तथा पूज्य बहिनश्री का परिचय सभी को प्रदान किया। सायंकाल विषापहारस्तोत्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के सी.डी. प्रवचन का लाभ प्राप्त कर, श्री नन्दीश्वर जिनालय में जिनेन्द्रभक्ति की गयी। इस दिन के कार्यक्रम के अन्तिम चरण में श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन विद्यार्थीगृह पहुँचकर सभी अतिथियों ने विद्यार्थियों द्वारा प्रस्तुत ज्ञानवर्धक कार्यक्रम का लाभ प्राप्त किया। विद्यार्थीगृह परिवार द्वारा विद्वानों एवं अतिथियों का स्वागत किया गया।

कार्यक्रम के दूसरे दिन सर्व प्रथम बहिनश्री के निवास पर उनकी आध्यात्मिक सी.डी. तत्त्वचर्चा का लाभ प्राप्त कर, श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर में जिनेन्द्र प्रक्षाल एवं पूजन का आयोजन किया गया। तत्पश्चात् निर्जरा अधिकार के 138 कलश पर पूज्य गुरुदेवश्री का वैराग्यमय सी.डी. प्रवचन का लाभ प्राप्त किया। तत्पश्चात् आदरणीय पण्डितजी के स्मरणाञ्जली हेतु एक वैराग्य सभा का आयोजन किया गया।

जिसमें पण्डित संजय जैन शास्त्री ने पण्डितजी का जीवन परिचय प्रदान किया। सोनगढ़ ट्रस्ट की ओर से श्री कुमुदभाई सोनगढ़ ने अपने विचार व्यक्त किये। इनके अतिरिक्त श्री अनन्तराय ए. सेठ, श्री पवन जैन, श्री अजित जैन बड़ौदरा, श्री रमेशभाई बढ़वान, श्री भरतभाई सेठ राजकोट, श्री अशोक लुहाड़िया इत्यादि ने पण्डितजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर प्रकाश डालते हुए उनके चिरवियोग को एक गुरुभक्त आत्मार्थी विद्वान की कमी बताया। आदरणीय ब्रह्मचारिणी बहिनों द्वारा वैराग्यपाठ, भक्ति आदि के कार्यक्रम रखे गये। दोपहर में पूज्य गुरुदेवश्री के सी.डी. प्रवचन के उपरान्त जिनमन्दिर में जिनेन्द्रभक्ति का आयोजन भी रहा। इस अवसर पर सोनगढ़ निवासी समस्त आत्मार्थी भाई-बहिनों का वात्सल्य भोज श्री खुशाल अतिथि सेवासमिति में पण्डितजी के परिवार द्वारा रखा गया। सायंकाल पूज्य बहिनश्री के निवास पर पूज्य गुरुदेवश्री एवं बहिनश्री का गुणानुवाद कार्यक्रम रखा गया। बालब्रह्मचारिणी आशाबेन ने बहिनश्री के आत्मसाधनामय जीवन से समागत मेहमानों को परिचित कराया। इसी दिन मानस्तम्भ मन्दिर पर भक्ति का कार्यक्रम रखा गया।

कार्यक्रम के अन्तिम दिन प्रात: जिनेन्द्र पूजन एवं नाश्ते के पश्चात् यात्रासंघ ने बड़ोदरा के लिए प्रस्थान किया, जहाँ तीर्थधाम मङ्गलायतन के ट्रस्टी श्री अजित जैन बड़ोदरा ने यात्रासंघ का भव्य स्वागत किया। विशेष उल्लेखनीय है कि इस यात्रा के अवसर पर तीर्थधाम मङ्गलायतन के अध्यक्ष श्री अजित जैन दिल्ली, बालब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़; पण्डित प्रकाशचन्द्र जैन ज्योतिर्विद, मैनपुरी; श्री पंकजभाई, मुम्बई; श्रीमती बीना जैन, देहरादून; श्री पारस पारेख, पूणे, श्री रिदम, अहमदाबाद; श्री ऋषभ जैन, छिन्दवाड़ा इत्यादि विशिष्ट लोग भी सम्मिलित थे। सोनगढ़ ट्रस्ट के सम्पूर्ण ट्रस्टी मण्डल; बालब्रह्मचारिणी बहिनों; एवं वहाँ समागत आत्मार्थी भाई-बहिनों तथा विद्यार्थीगृह परिवार ने जिस आत्मीय वात्सल्य का परिचय दिया, वह अविस्मरणीय है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन परिवार यात्रासंघ ने समस्त सोनगढ़ निवासी आत्मार्थी बन्धुओं, बालब्रह्मचारिणी बहिनों एवं विद्यार्थियों को तीर्थधाम मङ्गलायतन पधारने का भावभीना आमन्त्रण प्रदान किया।

इस प्रकार पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्य शिष्य को पूज्य गुरुदेवश्री की पावन साधनाभूमि में हार्दिक श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए यह यात्रासंघ वापस अलीगढ़ / तीर्थधाम मङ्गलायतन पहुँचा। विदित हो कि पूज्य पण्डितजी ने जीवन के अनेक वर्ष पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में रहकर तत्त्वज्ञान अर्जित करने में व्यतीत किये हैं, जिनका परिचय इस यात्रा के दौरान सभी अतिथियों को अत्यन्त गहरायी से प्राप्त हुआ।

आचार्य कुन्दकुन्द जयन्ती एवं दीक्षा दिवस पर विशेष कार्यक्रम

तीर्थधाम मङ्गलायतन : कलिकाल सर्वज्ञ के नाम से प्रसिद्ध परमपूज्य शासन शिरोमणि भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव के जन्मदिवस एवं दीक्षा दिवस माघ शुक्ला पंचमी के अवसर पर एक विशेष विचार गोष्ठी का आयोजन भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के मङ्गलार्थी छात्रों द्वारा किया गया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता पण्डित वीरेन्द्रकुमार जैन, आगरा द्वारा की गयी।

कक्षा 08 से 12 तक के सभी मङ्गलार्थियों ने आचार्य कुन्दकुन्द के लोकोत्तर व्यक्तित्व एवं उनकी कालजयी कृतियों — समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़ आदि पर अपने-अपने भावपूर्ण उद्‌गार व्यक्त किये।

इस विचारगोष्ठी को पण्डित वीरेन्द्रकुमार जैन, पण्डित संजय शास्त्री, पण्डित अशोक लुहाड़िया, बालब्रह्मचारिणी कल्पना जैन ने भी सम्बोधित किया। अन्त में विशिष्ट वक्ताओं ने सभी मङ्गलार्थी छात्रों को आचार्य कुन्दकुन्द के पंच परमागम एवं उनके पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री के भवतापनाशक प्रवचनों का गम्भीर से अध्ययन एवं श्रवण करने की प्रेरणा प्रदान की।

तीर्थधाम मङ्गलायतन में उपलब्ध नवीन प्रकाशन

1. **परमाध्यात्म तरङ्गिणी** (श्री समयसार कलश पर शुभचन्द्राचार्य देव विरचित संस्कृत टीका का शब्दशः हिन्दी अनुवाद)
   मूल्य- 50 रुपये डाक खर्च अतिरिक्त
2. **तत्त्वज्ञान तरङ्गिणी** (भट्टारक ज्ञान भूषण द्वारा रचित ग्रन्थ अन्वयार्थ हिन्दी पद्यानुवाद सहित)
   मूल्य- 35 रुपये, डाक खर्च अतिरिक्त
3. **हरिवंश पुराण वचनिका** (आचार्य जिनसेन द्वारा रचित भाषा वचनिका सहित) **मूल्य** - 50 रुपये, डाक खर्च अतिरिक्त

प्राप्ति स्थान

तीर्थधाम मङ्गलायतन, सत् साहित्य विभाग

आगरा-अलीगढ़ मार्ग, सासनी-204216 (महामायानगर) उत्तरप्रदेश

info@mangalayatan.com www.mangalayatan.com